प्रकाशकका निवेदन

यह एक सामयिक प्रकाशन है। हम अंग्रेजीके बारेमें क्या करेंगे? — यह प्रश्न हमारे सामने तभीसे खड़ा है, जबसे हमने अपने देशके लिए स्वाधीनता या स्वराज्य प्राप्त करनेकी बात सोची और उसके लिए प्रयत्न आरंभ किया। इस प्रश्नने उस समयसे अधिक महत्त्व ग्रहण कर लिया है, जब आजसे पन्द्रह वर्ष पूर्व हमने भारतकी प्रजाके नाते अपने-आपको भारतीय संविधान समर्पित किया था। प्राध्यापक आसरानीने इस पुस्तिकामें अंग्रेजी भाषासे सम्बन्धित इस प्रश्नकी उन्मुक्त और स्वतंत्र रीतिसे चर्चा की है और इस पर अपने निर्णय भी दिये हैं।

यह तो कोई नहीं कहता कि स्वतंत्र भारतमें अंग्रेजीका एक भाषाके रूपमें बिलकुल अध्ययन न किया जाय। प्रश्न यह है कि हमारे विद्यार्थी अपनी शालाओंमें अंग्रेजीका अभ्यास कब आरंभ करें? भारतमें राष्ट्रीय शिक्षाका जो पुनर्निर्माण आज हम करनेमें लगे हैं, उसमें अंग्रेजीका क्या स्थान होना चाहिये? भारतका संविधान अंग्रेजीके स्थानमें भारतकी भाषाओंके उत्तरोत्तर अधिक उपयोगका और सरकारी हेतुओंके लिए अंग्रेजीके उपयोग पर नियंत्रण लगानेका मार्ग बनाता है। संविधानने हमारे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जीवनके पुनर्निर्माणके लिए जो व्यापक आदेश दिया है, उसको ध्यानमें रखकर हमें अंग्रेजीके प्रश्न पर विचार करना चाहिये।

यह पुस्तिका भावनाओं अथवा पूर्वाग्रहोंके प्रवाहमें बहे बिना इस विवादास्पद प्रश्नकी जांच करती है: 'क्या हमारी शालाओंमें अंग्रेजीका शिक्षण जल्दी आरंभ होना चाहिये?' यह पुस्तिका इस बातकी ओर हमारा ध्यान खींचती है कि अंग्रेजीका शिक्षण शालाओंमें जल्दी आरंभ करनेसे कैसे गंभीर शैक्षणिक, सांस्कृतिक और सामाजिक खतरे पैदा हो सकते हैं और यह सुझाती है कि अंग्रेजीका शिक्षण बालककी चौदह वर्षकी आयुसे आरंभ किया जा सकता है — इससे जल्दी नहीं, जैसा कि आज प्रयत्न किया जा रहा है।

जैसा कि लेखकने अपनी प्रस्तावनामें कहा है, इस पुस्तिकाका प्रथम संस्करण १९६२ में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत पुस्तिका नये नाममें प्रकाशित उसका संशोधित और परिवर्धित संस्करण है। श्री मगनभाई देसाईके

द्वारा लेखकने हमसे पुछवाया कि हम अंग्रेजी पुस्तिकाका नया संस्करण प्रकाशित कर सकते हैं? हमने तुरन्त उनका यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और उनसे पूछा कि क्या वे हमें इसके हिन्दी और गुजराती संस्करण भी प्रकाशित करनेकी अनुमति देंगे। लेखकने कृपा करके यह अनुमति भी हमें दे दी। उसीके आधार पर तैयार किया गया यह हिन्दी संस्करण सारहके पाठकोंके सामने है। इस अनुमतिके लिए हम लेखकके हृदयसे आभारी हैं।

हम आशा करते हैं कि यह पुस्तिका शालाओंमें अंग्रेजीके शिक्षणके बारेमें आज विचारोंकी जो अत्यधिक अस्पष्टता फैली हुई है उसे दूर करनेमें और इस प्रश्नको हल करनेमें सहायक होगी, जो कि आज हमारी जनता और हमारी सरकारके सामने मुंह बाये खड़ा है। लेखकने शिक्षणके क्षेत्रमें आजीवन कार्य किया है और उन्होंने इस प्रश्नकी प्रस्तुत पुस्तिकामें शुद्ध सैद्धान्तिक और शैक्षणिक आधार पर समग्र दृष्टिसे चर्चा की है। ऐसा करनेमें उन्होंने इस विषयमें अपने गहरे अध्ययन तथा अनुसंधानका उपयोग किया है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि लेखक पाठकोंकी आलोचनाका स्वागत करेंगे। उनका पता है: ५२ आदर्श नगर, लखनऊ (उ. प्र.)।

१५-६-'६४

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

हाल ही में राज्यभाषाओंके बिलने संसदमें ऐसे उग्र वाद-विवादको जन्म दिया है कि आजकल यदि भाषाकी समस्या पर कुछ लिखा या बोला जाय, तो वह तत्काल या तो शंका-कुशंका, पूर्वाग्रह और विरोधकी भावनाओंको उत्तेजित करता है या फिर उचित हताशाकी भावनाके साथ मिश्रित हार्दिक स्वागतकी भावनाओंको आन्दोलित कर देता है। इस विषय पर हम लोग दो स्पष्ट विरोधी दलोंमें बटे हुए दिखाई देते हैं। इसलिए राष्ट्रकी एकताके हितकी दृष्टिसे यह आवश्यक है कि भाषाके इस प्रश्न पर भावुकताके आधार पर नहीं परन्तु तथ्यों, जाग्रत अभिप्रायों, विवेक और वैज्ञानिक अन्वेषणके आधार पर विचार किया जाय। प्रस्तुत पुस्तिकामें भाषाके प्रश्न पर इसी दृष्टिसे चर्चा की गई है।

मैंने राज्यभाषाके सकुचित प्रश्न पर यहां जान-बूझकर विचार नहीं किया है। मैंने अपने ध्यानको अधिक व्यापक प्रश्न पर केन्द्रित किया है। वह प्रश्न है: सच्ची और ठोस शिक्षा, कार्यक्षम प्रशासन और सामान्य सार्वजनिक जीवनके हेतु सिद्ध करनेके लिए हमारी शालाओं तथा कालेजोंमें अंग्रेजी भाषाके शिक्षणको कितना महत्त्व देना वाछनीय है? इस प्रश्न पर मैंने कहीं अधिक व्यापक दृष्टिकोणसे — हमारे सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक और प्रशासनिक हितोंकी दृष्टिसे — चर्चा की है। मैं मानता हूं कि अंग्रेजीके शिक्षण पर कम या अधिक भार देनेका प्रश्न हमारे लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिस पर तत्काल विचार होना चाहिये। यह प्रश्न हमारे ध्यानको राजनीतिक प्रश्नोंसे अथवा स्थापित हितों पर आधारित भावनाओंसे दूर हटाकर उसे तथ्योंके मूल्याकन पर, तर्कशुद्ध दलीलों पर और प्रमाणभूत अभिप्रायों पर केन्द्रित कर देता है। इस समस्याके हल हो जाने पर राज्यभाषाके विवादास्पद प्रश्न पर एक नये दृष्टिकोणसे विचार किया जायगा।

हमें अपनी शालाओंमें अंग्रेजीका शिक्षण कब आरंभ करना चाहिये? कितने वर्ष तक हमें उसका शिक्षण देना चाहिये और प्रति सप्ताह उसके शिक्षणके लिए कितने घंटे देने चाहिये? अंग्रेजीके शिक्षणके लिए हमें

कौनसी पद्धतियां ग्रहण करनी चाहिये? क्या हमें सभी विद्यार्थियोंको अंग्रेजी कविता और अंग्रेजी साहित्य पढ़ाना चाहिये? शिक्षाके माध्यमके रूपमें अंग्रेजीका उपयोग हमें विश्वविद्यालयोंमें करना चाहिये अथवा उससे भी पहले — माध्यमिक, प्राथमिक या बाल-मंदिरकी शिक्षामें? क्या अंग्रेजी भारतीय संघकी और राज्योंकी सेवाओंसे सम्बन्धित प्रतिस्पर्धात्मक परीक्षाओंका माध्यम होनी चाहिये? क्या अंग्रेजी प्रशासनिक कार्यालयों तथा उच्चतर न्यायालयोंके व्यवहारका माध्यम होनी चाहिये? ये सब प्रश्न इसी एक बड़ी समस्याके विभिन्न पहलू हैं कि अंग्रेजी भाषाके शिक्षणको उचित रूपमें कितना महत्त्व दिया जाना चाहिये? इस प्रकार राज्यभाषाका प्रश्न केवल एक अधिक बड़ी समस्याका ही एक पहलू है। इसलिए राज्यभाषाके प्रश्न पर उस व्यापक समस्याको ध्यानमें रख कर विचार किया जाना चाहिये, जिसका वह एक भाग है।

विभागने विशेषज्ञों और अन्वेषकोंका एक सम्मेलन इस प्रश्न पर समग्र दृष्टिसे चर्चा करने, अपनी जांच-पड़तालके परिणाम प्रस्तुत करने तथा इस प्रश्न पर अधिक अनुसंधान करनेकी योजनायें बनानेके लिए बुलाया नहीं होगा। 'यूनेस्को' संस्थाने हैम्बर्गमें हुए उस सम्मेलनके लिए जो निबन्ध (वर्किंग पेपर) प्रकाशित किया था, उसके पृ० ६ पर एक कोष्ठक दिया गया है। उस कोष्ठकमें जीवनकी तीन विभिन्न अवस्थाओंमें — १३ वर्षकी आयुसे पहले, १३ से १९ वर्षके बीच तथा १९ वर्षके बाद — विदेशी भाषाका शिक्षण आरम्भ करनेके 'लाभ', 'हानियां' और 'विशिष्ट गुण' बताये गये हैं। यही निबन्ध सम्मेलनमें चर्चाका आधार बना था।

हमें इस प्रश्न पर केवल विभिन्न प्रतिस्पर्धात्मक सेवा-परीक्षाओंके परिणामोंकी दृष्टिसे ही विचार नहीं करना चाहिये — जिन परीक्षाओंमें आज अंग्रेजी परीक्षाका माध्यम भी है और अनिवार्य विषय भी है। यह एक अत्यन्त संकुचित दृष्टिकोण है और बाह्य परिणामों पर आधारित विचार है। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, अंग्रेजीके शिक्षणके प्रश्नके साथ अनेक अधिक व्यापक हित — सांस्कृतिक, शैक्षणिक, सामाजिक और राजनीतिक — गहरे जुड़े हुए हैं। अन्तमें तो सरकारी सेवाओंसे सम्बन्धित सारी परीक्षायें — अखिल भारतीय परीक्षायें भी — राष्ट्रके लिए हैं, राष्ट्र इन परीक्षाओंके लिए नहीं है।

इसके सिवा, इस प्रश्नके साथ जुड़ा हुआ एक और प्रश्न भी अभी तक विवादका विषय बना हुआ है। वह प्रश्न है, बालकको छोटी उमरमें एकके बजाय दो भाषाओंका शिक्षण दिया जाय, तो यह शिक्षण उसकी बुद्धिके विकासमें तथा उसके सामान्य मानसिक और भावनात्मक विकासमें सहायक होता है या बाधक? इस सम्बन्धमें विभिन्न मत प्रकट किये गये हैं और छानबीन अभी आगे बढ़ रही है।

इस पुस्तिकामें मैं ऐसे प्रस्तुत प्रश्नोंके बारेमें पर्याप्त और व्यापक अध्ययन, पत्र-व्यवहार और संदर्भ पर आधारित अधिकसे अधिक तटस्थ तथा निष्पक्ष चर्चा प्रस्तुत करना चाहता हूं। इसमें मैं ऐसे तथ्यों या अनुसंधानके परिणामोंका उल्लेख करनेमें संकोच नहीं करूंगा, जो मेरे निर्णयोंके कुछ हद तक विरुद्ध जानेवाले हैं। बदलेमें मैं पाठकोंसे अनुरोध करूंगा कि वे इस पुस्तिकाको खुला मस्तिष्क रख कर पढ़ें।

यह पुस्तिका एक छोटीसी पुस्तिकाका परिवर्धित रूप है, जिसे १९६२ में 'भारतीय पाठशालाओंकी निम्न श्रेणियोंमें अंग्रेजी भाषाका शिक्षण' शीर्षक

देकर वाराणसीके जीवन-शिक्षा मुद्रणालयने प्रकाशित किया था। इस पुस्तिकाका उद्देश्य अंग्रेजीके शिक्षणकी समस्या पर सुशिक्षित जनताके दृष्टि-कोणको व्यापक और विशाल बनाना है तथा भाषा, भावना और राजनीति पर आधारित पूर्वाग्रहोंसे सर्वथा मुक्त वैज्ञानिक चर्चाको प्रोत्साहन देना है। यदि यह पुस्तिका इस कार्यमें सफल हुई, तो लेखक अपने सेवार्थ किये हुए श्रमको पर्याप्त मात्रामें सफल हुआ समझेगा।

लेखक शिक्षाशास्त्रियों, शिक्षकों तथा इस विषयमें छानबीन करनेवाले लोगोंकी मुक्त और स्पष्ट आलोचनाओंका स्वागत करेगा।

मैं 'जीवन-शिक्षा मुद्रणालय (वाराणसी)' के श्री तरुणभाईका आभारी हूं, जिन्होंने इस पुस्तिकाके अंग्रेजी और हिन्दीके प्रथम संस्करणके प्रकाशनमें इतना स्नेहपूर्ण रस लिया। श्री मगनभाई देसाई तथा नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, के व्यवस्थापकका भी मैं हृदयसे आभार मानता हूं, जिन्होंने कृपा करके अंग्रेजीमें इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित किया तथा अनुवाद करवा कर इसके हिन्दी और गुजराती संस्करण भी प्रकाशित किये।

१–५–१९६४ उद्धव आसरानी

१

विदेशी संस्कृतिके अंधानुकरण तथा शिक्षाके विदेशी माध्यमका परिणाम विभक्त मस्तिष्क

पिछले कुछ समयसे हमारी शालाओंमें अंग्रेजीके शिक्षण पर अधिक ध्यान देनेके पक्षमें जनमतकी एक लहर-सी उठ खड़ी हुई है। १९६१ में विभिन्न राज्योंके मुख्यमंत्रियोंकी जो परिषद् हुई थी, उसने यह सिफारिश की थी कि सभी राज्योंमें अंग्रेजीका अध्ययन कक्षा ३ से आरंभ किया जाय। अंग्रेजी एक अन्तरराष्ट्रीय महत्त्वकी भाषा है। और, यह दलील दी जाती है कि अंग्रेजीका ज्ञान हमारे जैसे अविकसित देशके लिए बड़ा लाभदायी सिद्ध होगा। परन्तु प्रश्न अंग्रेजीकी उपयोगिताका उतना नहीं है, जितना इस बातका है कि उसके शिक्षणको हमारी शिक्षा-प्रणालीमें कितना महत्त्व देना वांछनीय और उचित होगा। यदि हम अपनी शालाओंमें आजकल पढ़ाई जानेवाली अन्य द्वितीय भाषाओंकी तरह अंग्रेजीको द्वितीय भाषाके रूपमें पढ़ायें अथवा जिस प्रकार ब्रिटिश और अमेरिकन माध्यमिक शालाओंमें फ्रेन्च, जर्मन, रशियन या स्पेनिश जैसी द्वितीय

भाषायें पढ़ाई जाती हैं उसी तरह अंग्रेजीको हमारी शालाओंमें विद्यार्थियोंको पढ़ायें, तब तो कोई भी समझदार आदमी उसका विरोध नहीं कर सकता। परन्तु यदि हम अंग्रेजी भाषा तथा उसके साहित्यके अध्ययनको वही विशिष्ट स्थान अपनी शालाओं और कालेजोंमें दें, जो स्वतंत्रताके पहले उन्हें प्राप्त था, तो जैसा कि मैं आगे सिद्ध करूंगा, हम एक भयंकर भूल करेंगे। यह पहले दरजेकी मूर्खता होगी, यदि हम एक स्वतंत्र राष्ट्रके नाते भी राज्य-भाषा या राष्ट्रभाषा हिन्दीके अध्ययनकी अपेक्षा अंग्रेजी जैसी एक विदेशी भाषाके अध्ययनको कक्षा ३ से ही स्कूलोंमें अधिक महत्त्व दें। १९४७ से पहले हम यही करते थे। उस समय अंग्रेजी भाषा पाठ्यक्रमकी मुख्य भाषाके रूपमें पढ़ाई जाती थी; और राज्यकी भाषा या द्वितीय भाषाओंको गौण स्थान दिया जाता था।

सर्वप्रथम हमें यह समझ लेना चाहिये कि हमारे स्कूलोंमें अंग्रेजीके शिक्षणको स्वाधीनतासे पहले हम जितना महत्त्व देते थे उतना महत्त्व देनेका प्रश्न केवल एक विषयके स्थान पर किसी दूसरे विषयको आरंभ करनेका प्रश्न नहीं है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक फिश्लेने कहा है, "ऐसा मालूम होता है कि राष्ट्रीय चरित्रके निर्माणमें किसी अन्य उपकरणकी अपेक्षा भाषाका अधिक महत्त्व है।" विश्वविख्यात अमेरिकन मनोवैज्ञानिक एरिक फ्रॉमने १९६० में प्रकाशित अपनी 'ज़ेन बुद्धिज्म एण्ड साइको-एनालिसिज' नामक पुस्तकमें यही वस्तु बड़े विस्तारसे मनोवैज्ञानिक तर्कों द्वारा सिद्ध की है (पृष्ठ १०० से १०३)। इसलिए अंग्रेजीके शिक्षण पर अधिक भार देनेका अर्थ है हमारे शिक्षित वर्गोंको एक विदेशी संस्कृतिसे प्रभावित करना, विदेशी नमूने पर उनके व्यक्तित्वको ढालना और देशके जनसाधारणकी संस्कृतिसे उनका सम्बन्ध तोड़ना। और यह प्रभाव बालककी अत्यन्त प्रारंभिक और सुकोमल आयुमें डाला जायगा, इसलिए बालकके चरित्र पर उस विदेशी संस्कृतिके अच्छे और बुरे दोनों तत्त्वोंका असर पड़ेगा।

लन्दन विश्वविद्यालयमें तुलनात्मक शिक्षणके लेक्चरर निकोलस हैन्सके अनुसार (देखिये उनकी पुस्तक: कम्पेरेटिव एज्युकेशन, पृ० ४०–४३) बालक अपने आरंभके वर्षोंमें मातृभाषाके द्वारा बहुत स्वाभाविक रूपमें किसी राष्ट्रकी परम्पराओं और संस्कारोंको ग्रहण कर लेते हैं। यदि वे ६ वर्षकी अवस्थाके बाद कोई विदेशी भाषा सीखते हैं, तो वे ठोस वस्तुओंको सूचित करनेवाले शब्दोंके गर्भित अर्थोंको भले ही समझ लें, परन्तु उस विदेशी भाषामें व्यक्त किये जानेवाले विचारों अथवा सम्बन्धोंके गर्भित अर्थोंको समझना उनके लिए

कठिन होता है। कार्ल वॉसलर अपनी पुस्तक 'दि स्पिरिट ऑफ लैंग्वेज इन सिविलाइज़ेशन' में कहते हैं: "राष्ट्रभाषा एक अनुभूत भाषा होती है, जब कि सीखी हुई विदेशी भाषा अनुभूत नहीं हो सकती। दोनोंका भेद इस प्राकृतिक तथ्य पर निर्भर है कि भाषाका अनुभव पर आधारित विकास व्यक्तिके जीवन-कालमें केवल एक ही बार होता है।"

इसलिए निकोलस हैन्स किसी विदेशी भाषाको शिक्षाका माध्यम बनानेका घोर विरोध करते हैं। उनकी मान्यता है कि विदेशी भाषाको शिक्षाका माध्यम बनानेसे विद्यार्थीका मस्तिष्क दो भिन्न भागोंमें विभक्त हो जाता है। एक भाग मातृभाषाके लिए रहता है और दूसरा भाग विदेशी भाषाके माध्यमसे सीखे हुए स्कूल और कालेजके विषयों तथा विचारोंके लिए रहता है, जिन्हें मातृ-भाषामें व्यक्त नहीं किया जा सकता। हैन्सके मतसे तथाकथित 'बाबू-मानस' (जो केवल अनुकरणकी ही क्षमता रखता है, सर्जक प्रयत्नकी नहीं) — जिसका औपनिवेशिक शासक मजाक उड़ाते थे — किसी जन्मजात हीनताका परिणाम नहीं है, बल्कि विभक्त मस्तिष्कका परिणाम है। विजेताओंकी भाषाको शिक्षाके माध्यमके रूपमें अपनाकर विजित राष्ट्रका समग्र शिक्षित समाज विभक्त मस्तिष्कवाला हो सकता है।

निकोलस हैन्स कहते हैं: "यूरोपमें तथा एशिया और अफ्रीकामें दो भाषाओंके अध्ययनकी समस्याके बिलकुल भिन्न स्वरूप हैं। यूरोपके लोगोंको एक ही भाषा-समुदायसे सम्बद्ध दो यूरोपीय भाषायें सीखनी होती हैं, जब कि एशिया और अफ्रीकाके मूल निवासियोंको अपनी भाषासे बिलकुल भिन्न प्रकारकी भाषाका अध्ययन करना पड़ता है। (वही, पृ० ४५)" "द्विभाषीयता (दो भाषाओंका साथ-साथ अध्ययन) आम जनताकी दृष्टिसे उन्हीं देशोंमें संभव है, जहां दो अलग भाषायें बोलनेवाले समुदाय एक ही समान सांस्कृतिक भूमिका रखते हैं और उनकी भाषायें एक ही भाषा-समुदायसे सम्बन्ध रखती हैं। अन्यथा द्विभाषीयता किसी देशकी आबादीके एक छोटे विभाग तक ही सीमित रहेगी, जो दो भिन्न सांस्कृतिक भूमिकायें रखनेके कारण ही अपने राष्ट्रके जनसाधारणसे अलग पड़ जायगा।" (वही, पृ० ६२) महात्मा गांधीने शिक्षित लोगों द्वारा अंग्रेजीके अध्ययन पर दिये जानेवाले अत्यधिक भारके इस खतरेको समझ लिया था। उनके मतानुसार अंग्रेजी पर अत्यधिक भार देनेसे हमारे बालक राष्ट्रकी आध्यात्मिक और सामाजिक विरासतसे वंचित रह जाते हैं। इसलिए उन्होंने संघकी भाषाके रूपमें हिन्दुस्तानीके उपयोगका और शिक्षणके माध्यमके रूपमें राज्यकी

भाषाओंके उपयोगका समर्थन किया। (दि एज्युकेशनल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी — लेखक: एम. एस. पटेल, पृ० २२१-२३२) केवल विभिन्न जातियों तथा राज्योंको ध्यानमें रखकर राष्ट्रीय एकताकी बातें करना और उसके साथ शिक्षितोंको आम लोगोंसे अलग करनेवाली शिक्षा-नीतिका अनुसरण करना मूर्खताकी चरम सीमा है।

स्वतंत्रता-प्राप्तिकी पहली उमग और उत्साहमें लगभग सारी राज्य-सरकारोंने अंग्रेजीके स्थान पर हिन्दी या राज्यभाषाको प्रोत्साहन देनेका प्रयत्न किया। भारतीय विश्वविद्यालय आयोग (१९४८-४९) ने भी यह सिफारिश की थी कि एक सामान्य स्नातकके लिए अंग्रेजीके ज्ञानका स्तर इतना ही होना चाहिये कि वह अपने विषय पर लिखी हुई "अंग्रेज लेखकोंकी पुस्तकोंको आसानीसे पढ़ सके और समझ सके।" यह भी वांछनीय माना जा सकता है कि स्नातकोत्तर और शोधके स्तर पर विद्यार्थी उस विदेशी भाषामें अपने विचार सही रूपमें व्यक्त कर सके। एक सामान्य शिक्षित भारतीयके लिए विदेशी भाषाके इससे अधिक ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। किसी अमेरिकन या ब्रिटिश ग्रेज्युएटसे भी फ्रेन्च, जर्मन या अन्य द्वितीय भाषाओंके इतने ही ज्ञानकी अपेक्षा रखी जाती है। अंग्रेजी भाषाके इतने ज्ञानके लिए कोई विद्यार्थी उसे द्वितीय अनिवार्य भाषाके रूपमें आधुनिक पद्धतियोंसे हाईस्कूल तथा इंटरमीजिएट स्तर पर चार वर्ष तक और स्नातक-स्तर पर दो या तीन वर्ष तक सीखे, तो उतना ज्ञान पर्याप्त होगा।[1] उसके अभ्यासक्रममें अंग्रेजी साहित्यका विषय विशेष विषयके रूपमें सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिये; और अंग्रेजी भाषा शिक्षाका माध्यम नहीं होनी चाहिये। मैं समझता हूं कि जापानमें प्राथमिक शिक्षणसे लेकर उच्च शिक्षण तककी समग्र शिक्षाका माध्यम जापानी भाषा ही है। और वैज्ञानिक तथा शोध-सम्बन्धी पत्रिकाओंमें भी कुछ लेख जापानीमें प्रकाशित होते हैं, तथा दूसरे लेख अंग्रेजी अथवा दूसरी विदेशी भाषाओंमें प्रकाशित होते हैं। सोवियट संघमें १९२७ में निश्चित किये गये मार्गदर्शक सिद्धान्तोंके अनुसार छोटे छोटे राष्ट्रोंमें भी — जो सुगठित भूभागोंमें बसे हुए हैं और जिनकी अपनी संस्कृति

१. लंका द्वीपमें यूनेस्कोके तत्वावधानमें आधुनिक भाषाओंके शिक्षणके सम्बन्धमें १९५५ में एक सेमिनार हुई थी। उसकी रिपोर्टके अनुसार किसी भी अच्छे स्कूलमें किसी भी आधुनिक विदेशी भाषाका ६ वर्ष तक प्रति सप्ताह ६ घंटेका शिक्षण उत्तम व्यवस्था मानी जानी चाहिये। (यूनेस्को प्रकाशन: टीचिंग ऑफ माडर्न लैंग्वेजेज, पृ० ४९)

और ऐतिहासिक परम्पराएं हैं—"विश्वविद्यालयों तककी सम्पूर्ण शिक्षा उनकी अपनी भाषाओंमें दी जाती है।... साथ ही वे रूसी भाषा भी बोल सकते हैं और रूसी साहित्यके महान भण्डारोंका आनंद भी ले सकते हैं।" (निकोलस हैन्स: कम्पेरेटिव एज्युकेशन, पृ० ५७) हमारा देश विशाल है। उसकी अपनी अत्यन्त प्राचीन संस्कृति और परम्पराएं हैं और उसका अपना समृद्ध साहित्य-भण्डार है। रूसमें रूसी भाषा प्राथमिक शालाओंमें ७ और १७ वर्षकी आयुके बीच १० वर्ष तक सिखाई जाती है, जब कि अंग्रेजी जैसी विदेशी भाषायें केवल पांच वर्ष तक ही सिखाई जाती हैं। (गुन्थर: इनसाइड रशिया) "सोवियट संघमें कोई स्वप्नमें भी रूसी भाषाके अध्ययनको जबरदस्ती लादने अथवा उसे राज्यभाषा बनानेका विचार नहीं कर सकता।" (नेशन्स इन दि सोवियट यूनियन—सोवियट लैण्ड बुकलेट्स, १९५९, नई दिल्ली, पृ० ३८)

२

भाषा, पाश्चात्य संस्कृति तथा विदेशी माध्यम पर कुछ और मत

अंग्रेजी शिक्षणको हमारी शिक्षा-प्रणालीमें कितना महत्त्व दिया जाना चाहिये, इस प्रश्न पर हमारे देशमें इतनी गलतफहमी और पूर्वाग्रहपूर्ण कट्टरता पाई जाती है कि अंतिम प्रकरणमें दिये गये निर्णयोंके समर्थनमें कुछेक प्रसिद्ध लेखकों, शिक्षाशास्त्रियों तथा वैज्ञानिकोंके कुछ और मत यहां मैं दूं, तो वे उपयोगी सिद्ध होंगे।

पहली बात तो यह है कि इस वस्तुको अच्छी तरह नहीं समझा जाता कि किसी भाषाके अध्ययन पर भार देनेका अर्थ वास्तवमें उस भाषाके पीछे रही संस्कृति पर भार देना है। मैकॉलेसे लेकर भारतकी स्वाधीनताकी घोषणा तककी अवधिमें हमारे स्कूल-कालेजोंमें अंग्रेजीके शिक्षण पर जो भार दिया गया, उसके फलस्वरूप हम आजके भारतीय समाजमें पाश्चात्य संस्कृतिके विभिन्न तत्त्वोंका अच्छा और बुरा प्रभाव देख सकते हैं। यदि अंग्रेजीका शिक्षण हमारे स्कूलोंमें कक्षा १ अथवा नर्सरी कक्षाओंसे शुरू किया गया—जैसा कि शहरोंके शिक्षित उच्च वर्ग करना पसन्द करेंगे—तो पाश्चात्य संस्कृतिका यह प्रभाव पहले जैसा ही बना रहेगा और अधिक गहरा भी होगा। दो, तीन, चार

या पांच वर्षकी कोमल और लचीली आयुमें बालक जो कुछ देखता है, उसकी केवल नकल करनेकी ही बालककी वृत्ति रहती है। इस प्रकार हम 'नकल-चियोंका राष्ट्र'की उपाधि प्राप्त करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। कविवर रवीन्द्रनाथ टागोरने एक बार कहा था: "पश्चिमके पीछे पीछे चलनेसे पूर्वको कभी लाभ नहीं होगा। क्योंकि यदि पूर्व पाश्चात्य जीवनकी नकल करेगा, तो नकल अंतमें धोखा ही साबित होगी।" (टॉक्स इन चाइना)

यद्यपि कुछ मनोवैज्ञानिक इस बातसे सहमत नहीं होते कि भाषा और साहित्य ही केवल ऐसे दो साधन हैं, जो राष्ट्रीय चरित्रका निर्माण करते हैं; फिर भी इन दो साधनोंके राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण पर पड़नेवाले अत्यधिक प्रभावको व्यापक रूपमें स्वीकार किया गया है। बर्नार्ड जोसेफ कहते हैं: "भाषायें राष्ट्रीय चरित्रकी सर्वोत्तम प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हैं। भाषायें मानव-मनकी बाह्य जगत पर पड़नेवाली प्रथम छाप हैं। वस्तुओं और भावनाओंका वर्णन करनेके लिए मनुष्य जो शब्द गढ़ता है, वे उन वस्तुओं तथा भावनाओं सम्बन्धी मनुष्यके विचारोंके अनुरूप होते हैं। इन शब्दोंका उपयोग करनेके लिए वह जिस पद्धतिका निर्माण करता है, वह उसकी विचारसरणीकी सीधी छाया होती है। व्याकरण एक दर्शन (फिलासफी) ही होता है। . . . अलग अलग भाषायें बोलनेवाले व्यक्ति एक ही प्रकारके विधानोंसे समान निर्णयों पर नहीं पहुंचते और न नीतिमत्ता, आचरण, साहित्य और न्यायके उनके स्तर ही सामान्यतः समान होते हैं। राष्ट्रीय मनोवृत्तिका आधार अंशतः राष्ट्रकी भाषा पर भी होता है।" (चन्द्रबली पांडेकी पुस्तिका 'नेशनल लैंग्वेज ऑफ इंडिया' से)

यह बड़े दुःखकी बात है कि शासकोंके नाते हमारी संस्कृतिको भयभीत करनेवाले अंग्रेजोंके भारतमें न रहने पर भी हम पाश्चात्य संस्कृतिके विवेक-हीन अनुकरणको बढ़ानेकी दिशामें नये कदम उठा रहे हैं। उस संस्कृतिके गुणोंसे कोई इनकार नहीं करता। उनकी वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगतिको छोड़ दें, तो भी उनकी शक्ति, उनका आशावाद, उनकी साहस-वृत्ति और जीवनकी चुनौतियोंका सामना करनेवाली उनकी सामान्य आक्रामक वृत्ति पूर्वके हमारे पुराने निराशावाद, निष्क्रियता और आलस्यको दूर करनेमें काफी हाथ बटा सकते हैं। यदि हम सभ्य राष्ट्रोंकी वर्तमान प्रतिस्पर्धामें सफल होना चाहते हैं, तो हमें पाश्चात्य संस्कृतिकी लाभदायी बातोंको ग्रहण करना ही चाहिये। केवल ऐसा करनेमें हमें तारतम्यका ध्यान रखना चाहिये।

आधुनिक भारतीय शिक्षित समाजने अंग्रेजोंकी कलात्मक अभिरुचियोंको बहुत हद तक पचा लिया है। हमारे उच्च वर्गके शिक्षित लोगोंके जीवनमें इस बातकी मूक स्वीकृति हमें दिखाई देती है कि हमारी अपनी संस्कृति — कट्टरताकी सीमा तक पहुंची हुई सादगी पर जोर देनेके कारण — सौन्दर्य, कला और सुरुचियोंका आदर नहीं करती। परन्तु हमारे सीधे-सादे और सरल मनके ग्रामवासी मनोरंजनके सतत चलनेवाले कार्यक्रमों, पाश्चात्य खेलों, रेडियोके गीतों या फिल्मोंके लिए नहीं तरसते, न उन्हें दीवानखानोंकी तड़क-भड़कवाली सजावटों और भारी-भरकम सोफा-सेटोंकी लालसा होती — जो पाश्चात्य सभ्यताके गुलाम बने हुए उनके शहरी बन्धुओंको अनिवार्य मालूम होते हैं। भोले-भाले ग्रामवासी इन पाश्चात्य आवश्यकताओंका नाम भी नहीं जानते। उन्हें इन साधनोंकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वे जीवनसे कभी ऊबते ही नहीं। इनके बदले उनके सामने सदा प्रकृतिके रंगमंच पर कलरव करते पक्षी, आकाशमें विहरते बादल, खेतोंमें लहलहाती हरीभरी फसलें और दूसरे सुन्दर मनभावने दृश्य होते हैं। इन सबसे उनका निरन्तर मनोरंजन होता रहता है। पहले साधन मनुष्यको अधिकाधिक पानेका लोभी बनाते हैं; दूसरे साधन उसके समक्ष सन्तोषका वातावरण उत्पन्न करते हैं और प्रकृतिसे उसका अनुसंधान कराते हैं।

विज्ञान और यंत्रविद्यामें तथा कला और सौन्दर्यकी दृष्टिमें मनुष्य अतिकी सीमा तक जा सकता है। इसलिए हम कह सकते हैं: ईश्वर न केवल हमें अत्यधिक अज्ञानसे बचावे, परन्तु अत्यधिक ज्ञानसे अथवा ज्ञानके अहंकार और उसके दुरुपयोगसे भी बचावे। यहां मेरा मतलब केवल आणविक युद्धके अच्छी तरह जाने और स्वीकार किये हुए खतरोंसे ही नहीं है। आजकी अतिशय उद्योग-प्रधान पाश्चात्य सभ्यता अपने साथ दूसरे भी अनेक दोष लाई है। पश्चिमके भी अनेक विचारक इन दोषोंके प्रति सजग हैं। नीचे मैं दो-एक विचारकोंके, और विशेषत: वैज्ञानिकोंके, विचार उद्धृत करूंगा।

मेलबोर्नके भौतिकशास्त्रके प्राध्यापक आर० सी० जॉन्सन अपनी 'इम्प्रिज़न्ड स्प्लेन्डर' नामक पुस्तकमें लिखते हैं: "अनेक सामान्य लोग ऐसे काममें फंसे रहते हैं, जिसका बहुत बड़ा भाग नीरस और ऊबानेवाला होता है। . . . जोडके कथनानुसार वे 'ऐसे लोग हैं जिनकी कोई प्रतिष्ठा नहीं है, और वे ऐसे काम करते हैं जिनका कोई महत्त्व नहीं है।' . . . इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि लोग इस कामसे अधिकसे अधिक फुरसत पानेकी ही चिन्ता रखते हैं और इस फुरसतका आनंद भोगनेके लिए अपने इसी

जानते वे अधिकसे अधिक पैसा कमानेकी चिन्ता करते हैं। आधुनिक उद्योगों और व्यापारकी वृद्धिके साथ बड़े बड़े औद्योगिक शहरोंकी वृद्धि जुड़ी हुई है, जो पुलिस और बैंकरकी तरह फिरती है।" (पृ० ९०)

न्यूयार्कके प्रो० डब्ल्यू० डब्ल्यू० हार्मन 'मेन वान्ट्स इन मॉडर्न पोर्ट' में हालमें ही प्रकाशित अपने एक लेखमें (अग्र० १९६६) कहते हैं, "पूर्व और पश्चिम दोनोंमें सिखाया सत्य यह सूत्र रहा है—'अपनेको पहचानो'। परन्तु आन्तरिक जीवनकी उपेक्षा करके बाह्य जगत पर स्वामित्व प्राप्त करनेकी धुनमें पाश्चात्य संस्कृति इस सूत्रको व्यवहारका रूप देनेकी व्यवस्थित विचार नहीं कर सकी है। इसके संपूर्ण महत्त्वको समझनेमें हम असफल रहे हैं।"

प्रथम विश्वयुद्धके अन्तके बाद स्वयं पश्चिमके ही अनेक विचारक पाश्चात्य संस्कृतिके नैतिक दृष्टिसे आत्मघाती और मानसिक दृष्टिसे मनुष्यको नीचे गिरानेवाले इन प्रवाहोंकी ओर जगतका ध्यान खींचते रहे हैं। शिकागो युनिवर्सिटीके न्यूरोलॉजी (स्नायु-चिकित्सा-शास्त्र) के प्राध्यापक डॉ० सी० जडसन हेरिक अपनी पुस्तक 'दि इवोल्यूशन ऑफ ह्यूमन नेचर' में लिखते हैं "आकस्मिक युद्धोंका संहार और नाश तथा व्यापारिक शोषण और दंभसे परिपूर्ण चतुर प्रकारके द्वारा प्रजाओंको गुलाम बनानेके सूक्ष्म उपाय आज भी प्रचलित हैं और अब वे मानव-जीवनके समस्त प्रिय मूल्योंके संपूर्ण नाशका — यहां तक कि जीवनके भी नाशका — खतरा पैदा कर रहे हैं। हमने पशुओं पर भौतिक प्रभुत्व सिद्ध कर लिया है। परन्तु हमने स्वयं अपनी पाशविक वृत्तियों पर नियंत्रण सिद्ध नहीं किया है। हमने यह बात नहीं सीखी है कि कुछ व्यक्तिगत और राष्ट्रीय लाभोंको स्वेच्छासे छोड़ना ही एकमात्र वह उपाय है, जो संसारमें शांति बनाये रख सकता है, सुरक्षितताकी भावना उत्पन्न कर सकता है तथा सांस्कृतिक प्रगतिका मार्ग खोल सकता है। जब तक व्यक्ति अपने पर शासन करना और समुदायके कल्याणके लिए कुछ व्यक्तिगत लाभों और विशेषाधिकारोंका बलिदान करना नहीं सीखते, तब तक लोकतंत्र न तो भलीभांति काम कर सकता है और न लम्बे समय तक जीवित रह सकता है। यह परमार्थवाद है। परन्तु ऐसा आचरण सांस्कृतिक विकासके उच्चतम स्तरका लक्षण है। यह वह मुख्य उपाय है—और एकमात्र उपाय है—जो उन तनावों और तंगदिलियोंको घटा सकता है, जो कि आज जगतकी समस्त संस्कृतियोंको खतरेमें डाल रहे हैं।" (पृ० २२०-२१ तथा २२८-२९)

दुर्भाग्यसे आजकल हमारे देशमें एक अत्यन्त हानिकारक प्रवाह अमेरिकन पद्धतियोंकी नकल करनेका चल पड़ा है। और नकल भी हम अमेरिकाकी प्रगतिशील वातोंकी नहीं करते, वल्कि उसकी कम वांछनीय वातोंकी ही करते हैं। अमेरिकाके सवसे धनी लोकतंत्रसे चौंधिया कर हम ऐसा सोचते मालूम होते हैं कि जो कुछ अमेरिका करता है, वह सही और उचित ही होना चाहिये। हम इस विना पर हमारे यहांकी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक वुराइयोंको सहन करते हैं कि अमेरिका जैसा देश भी उन्हें सहन करता है। हम यह भूल जाते हैं कि अधिक धनी देश होनेके कारण इन वुराइयोंके होते हुए भी अमेरिका अपना काम ठीकसे चला लेता है, जव कि हम नहीं चला सकते।

इस तरह पश्चिमका अन्ध अनुकरण करके उसकी वुराइयोंको हम अपने देशमें भी निमंत्रित कर रहे हैं। सच पूछा जाय तो हम पहले ही उनको निमंत्रण दे चुके हैं और उनका स्वागत भी हमने किया है। पश्चिमकी तरह भारतमें नैतिक और धार्मिक नियंत्रण लुप्त हो रहे हैं। पश्चिमकी तरह भारतमें भी अधिकारों पर भार दिया जाता है और कर्तव्योंकी उपेक्षा की जाती है। पश्चिमके देशोंकी तरह हमारे देशमें भी मानवका आज यंत्रीकरण हो रहा है। इसलिए हमें पश्चिमके अनुकरणसे सावधान हो जाना चाहिये। ऐसी किसी भी शिक्षा-नीतिसे, जो इस अनुकरणकी वृत्तिको प्रोत्साहन देगी, हमें निश्चित रूपसे सावधान रहना चाहिये।

अंग्रेजी — शिक्षाके माध्यमके रूपमें

भारतीय शिक्षाके क्षेत्रमें एक अधिकसे अधिक चौंकाने और आघात पहुंचानेवाली वस्तु है शिक्षाके माध्यमके रूपमें अंग्रेजीको वनाये रखनेका आग्रह। यूनेस्को प्रकाशन 'दि यूस ऑफ वर्नाक्युलर लैंग्वेजेज़ इन एज्युकेशन' (१९५३) में कहा गया है: "यह स्वतःसिद्ध वस्तु है कि वालकको पढ़ानेका उत्तम माध्यम उसकी अपनी मातृभाषा है।" ओ'डोहर्टीने यूनेस्कोकी विदेशी भाषा-शिक्षणके निष्णातोंकी सभामें पढ़े गये अपने द्विभाषीयता-सम्वन्धी निवन्धमें कहा है: "यदि स्कूलमें वालकके शिक्षणका माध्यम वही भाषा हो, जो कि उसके घरमें सामाजिक व्यवहारकी सामान्य भाषा है, तो वालकको अधिक अच्छा शिक्षण दिया जा सकता है और वौद्धिक दृष्टिसे उसका अधिक विकास होता है।" शिक्षाके माध्यमके रूपमें अंग्रेजीकी कठिनाइयां भारतमें विश्वविद्यालयोंके प्रोफेसरोंके लिए सदासे ही सिरदर्दका

कारण रही हैं। विदेशी भाषाकी पाठ्यपुस्तकोंके कारण तथा विदेशी भाषामें प्राध्यापकोंके पढ़ानेके कारण विद्यार्थीके लिए वैकल्पिक विषयोंके नये और क्लिष्ट अथवा गूढ़ विचारोंको समझनेकी कठिनाई, अतिशय बढ़ जाती है। हमारे देशमें, विशेषतः स्वाधीनता-प्राप्तिके बाद, विदेशी भाषाके माध्यमकी प्रथा जारी रखनेका एकमात्र उचित कारण वह महत्त्व है, जो हम आज भी अंग्रेजी भाषाको प्रशासनिक कार्य तथा सरकारी नौकरियोंके लिए एक आवश्यक योग्यताके रूपमें देते हैं। शैक्षणिक दृष्टिकोणसे विदेशी भाषाके माध्यमका कोई बचाव नहीं किया जा सकता। भारतके सिवा दूसरा कोई स्वतंत्र देश पब्लिक सर्विसकी परीक्षायें विदेशी भाषामें लेनेकी स्वप्नमें भी कल्पना नहीं करेगा। लंका जैसे छोटेसे देशने भी, जो हमारे साथ ही स्वतंत्र हुआ था, १ जनवरी, १९६४ से अंग्रेजीको हटाकर सिंहलीको राज्यभाषा बना दिया है।

यदि यह मान लें कि केन्द्रकी राज्यभाषाके सम्बन्धमें भारतके विभिन्न राज्योंके बीच ऐसा झगड़ा चल रहा है, जिसका हल खोजना कठिन है, तो भी विश्वविद्यालयोंमें हिन्दी अथवा राज्यभाषा अच्छी तरह शिक्षाका माध्यम हो सकती है। जितने समयमें कोई विद्यार्थी स्नातक होगा उतने समयमें वह संयोजन-भाषा (लिन्क लैंग्वेज) हिन्दीमें इतनी योग्यता प्राप्त कर लेगा कि जरूरत पड़ने पर दूसरे राज्योंके लोगोंके साथ विचार-विनिमय अथवा पत्र-व्यवहार कर सके। यदि वह अखिल भारतीय सेवाओंमें सम्मिलित होना चाहे अथवा अनुस्नातक वर्गका अध्ययन करना चाहे, तो इतनी अवधिमें वह दूसरी संयोजन-भाषा अंग्रेजीका भी पर्याप्त ज्ञान बढ़ा लेगा। हिन्दी-भाषी लोगोंके लिए या तो हिन्दीका या किसी अन्य भारतीय भाषाका (दक्षिण भारतकी किसी भाषाको अधिक महत्त्व देना चाहिये) एक प्रश्नपत्र अनिवार्य बनाया जा सकता है। इससे राष्ट्रीय एकता निश्चित बनेगी और शिक्षाके विदेशी माध्यमकी कठिनाई भी दूर होगी।

विदेशी माध्यमको हटाकर शिक्षाका भारतीय माध्यम करनेमें केवल हमारे स्थापित स्वार्थ और हमारी अनावश्यक घबराहट ही बाधक बनते हैं। विश्वविद्यालयके लगभग प्रत्येक विषयमें अंग्रेजीके माध्यम द्वारा शोध करनेवाले तथा शोधका मार्गदर्शन करनेवाले उच्च कोटिके प्रतिभाशाली विद्यार्थी और प्राध्यापकगण पर्याप्त संख्यामें हमारे यहां उपलब्ध हैं। यही शोधकार्य हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओंके द्वारा क्यों नहीं किया जा सकता? अथवा अनुस्नातक वर्गोंके विद्यार्थियोंके लिए भी हिन्दी अथवा अन्य भारतीय

भाषाओंमें पाठ्यपुस्तकें क्यों नहीं लिखी जा सकतीं? अनुस्नातक विद्यार्थियों तथा उन लोगोंमें, जो अखिल भारतीय प्रतिस्पर्धात्मक परीक्षाओंमें बैठते हैं, अंग्रेजी जैसी विदेशी भाषामें भी लिखी हुई पुस्तकें पढ़ने-समझनेकी और उस भाषामें अपने विचार प्रकट करनेकी शक्ति होनी चाहिये। कक्षा ३ में भरती होनेवाले विद्यार्थियोंमें ऐसे विद्यार्थियोंकी संख्या मुश्किलसे ०.१ प्रतिशत होगी। यदि आवश्यक हो तो इस छोटीसी संख्याके लिए सारे विश्वविद्यालयोंमें फीस लेकर अंग्रेजीके शिक्षणकी विशेष व्यवस्था की जा सकती है। परन्तु स्नातक वर्गोंके विद्यार्थियों पर विदेशी माध्यम लादनेका अथवा कक्षा ३ से या उससे भी पहले सारे विद्यार्थियों पर विदेशी भाषाके अध्ययनको जबरन् थोपनेका बिलकुल बचाव नहीं किया जा सकता। इंजीनियरिंग जैसे तकनीकी विषयों या डाक्टरी, कानून आदि धन्धोंसे सम्बन्धित विषयोंमें विदेशी माध्यमको हटाकर उसके स्थान पर भारतीय माध्यम रखनेमें दो वर्षके बजाय पांच वर्षका समय लग सकता है। परन्तु इस शैक्षणिक सुधारको अनिश्चित कालके लिए टालनेकी वृत्ति शिक्षाकी दृष्टिसे किसी भी कारणसे उचित नहीं ठहरायी जा सकती।

विदेशी माध्यमने हमारे लिए बड़ी विषम परिस्थिति उत्पन्न कर दी है। कुछ कन्वेन्ट स्कूल या ब्रिटिश पद्धतिके स्कूल कक्षा १ से और नर्सरी कक्षाओंसे भी अंग्रेजीका शिक्षण आरंभ कर देते हैं। वे ऊंची फीस लेते हैं, फिर भी शहरके उच्च शिक्षित वर्गके लोगोंमें अपने बच्चोंको इन स्कूलोंमें भेजनेकी होड़ लगी रहती है। दूसरे स्कूल भी इन स्कूलोंके पाठ्यक्रमकी नकल करनेका प्रयत्न करते हैं और खूब कमाई करते हैं। कुछ कन्वेन्ट स्कूलोंने तो नर्सरी कक्षाओंसे ही अंग्रेजीको शिक्षाके माध्यमका स्थान देनेकी धृष्टता भी दिखाई है। इन स्कूलोंमें कोई विद्यार्थी मातृभाषाके वर्गको छोड़कर किसी दूसरे विषयके वर्गमें मातृभाषा बोलता है, तो कभी कभी उस पर जुर्माना किया जाता है। बालकोंके इस अराष्ट्रीयकरणको सामान्यतः देशकी राजनीति, सेवाओं या व्यवसायोंमें उच्च पदस्थ माता-पिता न केवल बरदाश्त कर लेते हैं, बल्कि उसे बड़ी प्रशंसाकी वस्तु मानते हैं। सरकारी नौकरियोंकी संभावनाओंका इतना भारी प्रलोभन माता-पिताको रहता है, यद्यपि सच पूछा जाय तो जो बालक विदेशी माध्यमसे नर्सरी कक्षायें पास करते हैं, उनमें से बहुत थोड़े ही अखिल भारतीय परीक्षाओंकी मंजिल तक पहुंच पाते हैं। लड़कियोंको भी ऐसी कन्वेन्ट संस्थाओंमें पढ़नेके लिए भेजा जाता है। यदि ये कन्वेन्ट संस्थायें शिक्षणकी अच्छी प्रगतिशील पद्धतियां अपना सकती हैं, तो क्या वे ही अच्छी पद्धतियां अन्य स्कूलोंमें —

सबकी कक्षाओंमें विदेशी माध्यम दाखिल करके बालकोंको अराष्ट्रीय बनानेका क्रूर अत्याचार किये बिना — यही आजादी आ सकती?

केवल एक पीढ़ी पहले ही हिब्रू भाषा एक साहित्यिक और धार्मिक भाषा ही थी। आज इजराइलके छोटेसे राज्यमें उच्चतर शिक्षाकी सारी पढ़ाई केवल हिब्रू भाषाके द्वारा ही चलती है। इंडोनेशियामें विदेशी प्राध्यापकोंके सिवा अन्य सब प्राध्यापकोंको विश्वविद्यालयीन वर्गोंमें इंडो-नेशियन भाषाके माध्यम द्वारा ही विद्यार्थियोंको शिक्षा देना होता है। भारतके कुछ राज्य माध्यमिक शालान्त अभ्यासक्रम तक मातृभाषा द्वारा पढ़ानेमें हिचकिचाते हैं, जब कि ब्रह्मदेशमें मातृभाषाके द्वारा ही यह पढ़ाई होती है। हमारे देशमें शिक्षाके माध्यमके विषयमें जो अपमानजनक और लज्जाजनक परिस्थिति आज है, उसे एक क्षणके लिए भी सहन नहीं करना चाहिये। किसी शैक्षणिक अथवा सांस्कृतिक आधार पर उसका जरा भी बचाव नहीं किया जा सकता। उसमें जल्दीसे जल्दी सुधार होना चाहिये।

यह एक सर्वमान्य शैक्षणिक सिद्धान्त है कि विदेशी भाषाका वाचन और लेखन 'मातृभाषाके वाचनकी अच्छी तालीम' के बाद ही आरंभ किया जाना चाहिये। ऐसी तालीम विदेशी भाषाके सीखनेमें भी सहायक हो सकती है। अमेरिकामें भी, जहां छोटे बालकोंको विदेशी भाषायें सिखानेके कार्यक्रम सबसे अधिक लोकप्रिय हैं, ये भाषायें बालकको ६ या ७ वर्षकी आयुमें ही सिखाई जाती हैं; जब कि स्वतंत्र भारतके कुछ कॉन्वेन्ट और ब्रिटिश पद्धतिके स्कूलोंमें २ या ३ वर्षकी आयुसे ही बालकोंको अंग्रेजी सिखाई जाती है, बालक ब्रिटिश बालकाव्योंको सुनते-सुनते ही बड़े होते हैं, और बालककी मातृभाषाके साथ सौतेली मां जैसा व्यवहार किया जाता है।

मार्जोरी शाइब्स अपनी 'रीसेन्ट ट्रेन्ड्स इन एज्युकेशन' नामक पुस्तक (पृ० ९६) में यह लिखती हैं: "मातृभाषामें शिक्षा देना एक निश्चित शर्त है, क्योंकि मातृभाषा उन गहरी सांस्कृतिक परम्पराओंका भण्डार है, जिनके जीवन और शक्ति पर एक स्थिर और एकता उत्पन्न करनेवाला सामाजिक धर्म निर्भर करता है। प्रत्येक समाजके लिए मूल आधारकी आवश्यकता होती है; गांधीजीके सपनोंका भारत प्राचीन भारतके उत्तम जीवन पर खड़ा होना चाहिये।"

बर्नार्ड जोसेफ कहते हैं: "किसी राष्ट्रकी संस्कृतिकी जड़ें उस भाषामें होती हैं, जो उस राष्ट्रकी प्रजाकी विशिष्ट भाषा होती है। . . . कोई भाषा तब तक समृद्ध नहीं हो सकती जब तक कि वह किसी प्रजाकी विशिष्ट निधि

मैट्रिकुलेशनके बाद कालेजोंमें शिक्षा और परीक्षाका माध्यम बनी हुई है; और कुछ स्थानोंमें अंग्रेजीका शिक्षण आज भी कक्षा ३ से आरंभ होता है। पिछले कुछ समयसे तो उत्तर भारतमें भी इस सम्बन्धमें प्रगतिका चक्र उलटा घूमने लगा है। गुजरात राज्यमें भी, जो इस प्रश्न पर सबसे आगे बढ़ा हुआ राज्य रहा है, लोकमतका एक बड़ा भाग सरकार पर अंग्रेजीके विषयमें पीछे कदम हटानेके लिए दबाव डाल रहा है। उत्तर प्रदेशमें, जो कि हिन्दीका मजबूतसे मजबूत दुर्ग है, सरकारने नवम्बर १९६१ में अपने पूरक बजटके समय पुनः कक्षा ३ से अंग्रेजीका शिक्षण आरंभ करनेकी घोषणा की।

अंग्रेजीके प्रश्न पर अपने कदम पीछे हटानेके लिए उत्तर प्रदेश सरकारने कारण यह बताया है कि यदि अंग्रेजी-शिक्षणकी नीतिमें परिवर्तन न किया जाय, तो बंगाल तथा दक्षिणके विद्यार्थियोंकी तुलनामें हमारे विद्यार्थी अखिल भारतीय परीक्षाओंमें पीछे पड़ जायेंगे। इस प्रकार दक्षिणमें फैले हुए केन्द्रीय सरकारके द्वारा तथाकथित हिन्दी-साम्राज्यवादके भयको मिटानेका प्रयत्न करनेके बजाय उत्तर प्रदेश सरकारने भी अंग्रेजीको स्वतंत्रताके पहले जैसा महत्त्व देनेमें दक्षिण भारतका अनुकरण करनेका निर्णय किया है। उत्तर प्रदेश सरकारका यह तर्क वास्तवमें उत्तर भारतके सभी राज्योंको लागू होता है।

इस प्रकार सारे देशमें अंग्रेजीके शिक्षण पर उतना ही भार देनेकी भूमिका तैयार हो रही है, जितना कि स्वतंत्रतासे पहले उसके शिक्षण पर दिया जाता था। इस प्रकार अंग्रेजी फिरसे मुख्य भाषाका विषय बन जायगी, स्कूल या कालेजके समय-पत्रकोंमें उसे फिरसे प्रति सप्ताह ६ से ८ घंटेका समय दिया जायगा; और बहुत संभव है कि विश्वविद्यालयोंके प्राध्यापक फिरसे दक्षिणके समान उत्तरमें भी अनिवार्यतः अंग्रेजी माध्यम द्वारा पढ़ाना आरंभ कर देंगे, जिससे उत्तरके विद्यार्थी भी अखिल भारतीय परीक्षाओंके प्रश्नपत्रोंका उत्तर समान सुविधासे अंग्रेजीमें दे सकें।

इस सम्बन्धमें कक्षा १ से और नर्सरी कक्षाओंसे भी अंग्रेजीका शिक्षण आरंभ करनेवाले खर्चीले कान्वेन्ट स्कूलों, पब्लिक स्कूलों आदिकी लोकप्रियताकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। बड़े लोग, शहरोंके उच्च शिक्षित वर्गके लोग और जननेता भी इन स्कूलोंमें भारी फीस देकर अपने बच्चोंको दाखिल करानेकी होड़में पड़े हुए हैं। इस देशमें हम अन्ध अनुकरणकी चरम सीमाको पहुंच चुके हैं।

ये सब बातें अनेक दृष्टियोंसे सरकार और प्रजाके भयंकर प्रवाहको सूचित करनेवाली हैं। इसका हमें अपनी संपूर्ण शक्ति और साधनोंसे विरोध करना

चाहिये। यह कैसा भारी अन्याय है कि अत्यन्त अल्पसंख्यक विद्यार्थियोंके लिए, जो अखिल भारतीय परीक्षाओंमें बैठते हैं, बाकीके सारे विद्यार्थी कक्षा ३ से —— लगभग ७ वर्षकी आयुसे —— ही अंग्रेजी सीखनेमें अपना इतना समय खर्च करें! हमारे देशमें कक्षा ३ में प्रवेश करनेवाले विद्यार्थियोंमें से मुश्किलसे १० प्रतिशत विद्यार्थी विश्वविद्यालयके स्तर तक पहुंचते हैं और अंग्रेजी पर अधिक भार देनेकी नीतिका लाभ उठा पाते हैं। लड़कियोंका प्रतिशत तो इससे भी बहुत कम रहता है। बाकी सब विद्यार्थियोंके लिए तो यह प्रयत्न समय और शक्तिकी बरबादी जैसा ही होगा।

उत्तर प्रदेश सरकारने पहले इस तर्कका उत्तर देनेके लिए यह दावा किया कि वह कक्षा ३ से कक्षा ५ तक अंग्रेजीके अध्ययनको वैकल्पिक कर देगी। संभवतः अन्य सरकारें भी ऐसा ही दावा करें। परन्तु यदि अंग्रेजी वास्तवमें वैकल्पिक रहे और जो विद्यार्थी अंग्रेजी न लें उनके लिए दूसरे कुछ वैकल्पिक विषय रहें, तो **इसका मतलब होगा वर्तमान शिक्षकोंके सिवा प्रत्येक प्राथमिक स्कूलमें अंग्रेजी सिखानेवाले एक अतिरिक्त शिक्षककी व्यवस्था करना।** यदि पड़ोसकी दो प्राथमिक शालाओंके लिए एक ही शिक्षककी नियुक्ति की जाय, तो भी उत्तर प्रदेशमें (उसकी ४०००० प्राथमिक शालाओंके लिए) प्राथमिक शालाओंका वेतन-बिल प्रतिवर्ष १ करोड़ ६० लाख रुपये होगा। क्या सरकार कक्षा ३ से अंग्रेजीको वैकल्पिक विषय बनानेके लिए इतनी बड़ी रकम खर्च करनेको तैयार है? नहीं।

नवम्बर १९६१ के पूरक बजटके समय उत्तर प्रदेश सरकारने उस वित्तीय वर्षमें केवल ५ लाखकी रकम खर्च करनेका प्रस्ताव रखा और अन्तमें इस मदमें प्रतिवर्ष केवल २० लाखकी रकम निर्धारित की। परन्तु १९६२ में उत्तर प्रदेश सरकारने यह घोषणा की कि जुलाई १९६२ से अंग्रेजी केवल चुनी हुई शालाओंमें —— लगभग १० प्रतिशत शालाओंमें —— सिखाई जायगी और जो शिक्षक अंग्रेजी सिखायेगा उसे प्रतिमाह १० रु० अतिरिक्त वेतन-भत्ता मिलेगा। परन्तु यदि अंग्रेजी सारी उच्चतर शिक्षा और उच्चतर सरकारी सेवाओंके लिए प्रवेश-द्वार हो, तो उसका शिक्षण सबके लिए सुलभ होना चाहिये। यदि प्रत्येक प्राथमिक शालामें अंग्रेजी सिखानेके लिए १० रु० का अतिरिक्त वेतन-भत्ता दिया जाय, तो भी वह चालू खर्चमें ५० लाख रुपयेकी वृद्धि कर देगा। इसलिए उत्तर प्रदेश सरकारने यह व्यवस्था केवल कुछ चुनी हुई शालाओंमें ही की है, सब शालाओंमें नहीं। परन्तु इसका यह अर्थ होता है कि सरकार अपनी सत्ताके बल पर पहलेसे

ही यह निर्णय कर देती है कि कुछ चुने हुए स्कूलोंके विद्यार्थी ही, अपने अंग्रेजीके ज्ञानके आधार पर, विश्वविद्यालयोंमें जा सकते हैं, क्योंकि वहां 'जनरल इंग्लिश' का प्रश्नपत्र अनिवार्य होगा है। और ऐसे चुने हुए स्कूल मुख्यतः शहरोंमें होंगे, क्योंकि अंग्रेजी सिखानेकी मांग वहीं अधिक प्रबल है। बाकीके स्कूलोंके विद्यार्थियोंके लिए कक्षा ८ से आगे जाना कठिन होगा, क्योंकि अधिकतर राज्योंमें कक्षा ६ से अंग्रेजीका शिक्षण अनिवार्य है। उत्तर प्रदेशमें भी, यहां ऊपरसे तो अंग्रेजीका विषय वैकल्पिक दिखाई देता है, व्यवहारमें अधिकतर स्थानोंमें अंग्रेजी अनिवार्य ही है; क्योंकि वहां अंग्रेजीके बदलेमें लिये जानेवाले वैकल्पिक विषयोंकी कोई व्यवस्था नहीं है। इसका मतलब यह हुआ कि सरकार द्वारा न चुने गये स्कूलों (मुख्यतः ग्रामीण क्षेत्रोंमें) के सारे विद्यार्थी दूसरोंसे कम योग्यता होनेके कारण नहीं, परन्तु केवल ऐसे स्कूलके निकट रहनेके कारण, जहां अंग्रेजीके शिक्षणकी व्यवस्था नहीं है, उच्च शिक्षासे वंचित रह जायगे। क्या यही हमारे समाजवादी समाजका आदर्श है, जिसमें सबको उन्नतिके समान अवसर मिलने चाहिये?

उत्तर प्रदेश सरकारके १९६३ के नये आदेशानुसार प्रत्येक प्राथमिक स्कूलको यह अनुमति दी गई है कि कक्षा ३ से कक्षा ५ तक वैकल्पिक रूपमें अंग्रेजी पढ़ानेके लिए वह प्रत्येक विद्यार्थीसे विशेष फीस ले सकता है और अंग्रेजी सिखानेवाले शिक्षकको १० रु० विशेष वेतन-भत्ता प्रति-माह दे सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कक्षा ५ तक भी शिक्षा पूर्णतः निःशुल्क न रही। और जिन स्कूलोंमें निर्धन बालक हैं या जिन देहाती स्कूलोंमें अंग्रेजीका विशेष अध्यापक नहीं रखा जा सका है, वहां सब बालक उच्च शिक्षासे वंचित रह जायगे। अंग्रेजी यदि उच्च शिक्षाके लिए तथा राज्यकी उच्च सेवाओंके लिए आवश्यक नहीं होती, तो उसे वैकल्पिक रखने या उसके लिए स्कूलोंमें विशेष फीस लेनेमें कोई आपत्ति नहीं होती। परन्तु जब तक उच्च स्तर पर अंग्रेजीका महत्त्व घटाया नहीं जाता तब तक इस प्रकार ऊंची शिक्षा तथा ऊंची सेवाओंके द्वार निर्धन तथा ग्रामीण बालकोंके लिए बन्द रखना बहुत ही आपत्तिजनक होगा।

फिर, यदि अंग्रेजीको वैकल्पिक विषय रखा जाता है, तो उसके बदलेमें कक्षा ३, ४ और ५ में कौनसे विषय वैकल्पिक रहेंगे? बहुत संभव है कि उसके बदलेमें दस्तकारियोंका विषय रखा जाय, क्योंकि आज दस्तकारियोंको शिक्षकों, विद्यार्थियों तथा जनता द्वारा समान रूपसे स्पर्धाका विषय मानकर कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। यह बहुत बड़ी भूल है। यदि ऐसा हुआ

तो वे स्कूल नामके ही बुनियादी स्कूल रहेंगे, जिनमें दस्तकारियोंके बदलेमें अंग्रेजी सिखायी जाती है। इसके सिवा, हमारे स्कूलोंके जो उत्तम विद्यार्थी अपने अंग्रेजी ज्ञानके आधार पर उच्चतर अध्ययन, शोधकार्य तथा राजकीय सेवाओंके लिए आगे बढ़ेंगे, वे सफेदपोश आराम-पसन्द बाबुओंके मानसवाले ही होंगे। दूसरे, यदि अंग्रेजी लेनेवाले विद्यार्थियोंके लिए राज्यभाषाके शिक्षणके घंटे कम कर दिये गये, तो एक ओर उनके मस्तिष्कोंको विदेशी संस्कृतिसे प्रभावित करनेकी प्रक्रिया चलेगी और दूसरी ओर वे कुछ अंश तक भारतीय संस्कृतिसे वंचित रह जायंगे। इसके सिवा, गणित, समाजशास्त्र, विज्ञान जैसे दूसरे सब विषयोंके घंटे यदि इसलिए कम किये जायं कि अंग्रेजी जैसे नये अनिवार्य विषयको अथवा नये वैकल्पिक विषय — अंग्रेजी या कहिये कि संस्कृत — को कक्षा ३ से पाठ्यक्रममें स्थान दिया जा सके, तो कक्षा ८ के अंतमें उपरोक्त महत्त्वपूर्ण विषयोंमें विद्यार्थियोंकी सिद्धिका अंतिम स्तर घट जायगा। इसलिए यदि हम गंभीरतासे विचार करें, तो प्रतीत होगा कि इन छोटी कक्षाओंमें अंग्रेजीका शिक्षण आरंभ करना शिक्षाके सिद्धान्तोंके विरुद्ध है तथा विद्यार्थियोंके हितों और भारतीय संस्कृतिके लिए घातक है।

४

अमेरिकाका उदाहरण हमारी परिस्थितियोंके लिए असंगत है

कुछ क्षेत्रोंमें कक्षा ३ से अंग्रेजीका शिक्षण आरंभ करनेके पक्षमें एक बड़ा सुन्दर तर्क दिया जाता है। यह कहा जाता है कि छोटे बच्चोंमें द्विभाषीयताकी (दो भाषायें साथ साथ सीखनेकी) जन्मजात प्रवृत्ति रहती है। उसे सन्तुष्ट किया जाना चाहिये। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिये कि भारतमें अधिकतर बालकोंकी यह प्रवृत्ति सन्तुष्ट हो जाती है, क्योंकि उनकी स्थानीय बोली स्कूलकी पाठ्यपुस्तकोंकी भाषासे थोड़ी भिन्न होती है। यदि लिखित भाषाओंमें से ही कोई भाषा चुननी हो, तो हम अंग्रेजीको ही क्यों चुनें? उत्तर प्रदेशके प्राथमिक स्कूलका औसत बालक अंग्रेजीके बदले उर्दू, पंजाबी या बंगला क्यों न सीखे, जो संभवतः भावी जीवनमें उसके लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगी?

द्विभाषीयताके इस प्रश्न पर यूनेस्कोका प्रकाशन 'दि वर्ल्ड सर्वे ऑफ एज्युकेशन — २ : प्राइमरी एज्युकेशन' नीचेकी तुलनात्मक जानकारी देता है। महान सत्ताओंके अधीनस्थ उपनिवेशोंको छोड़कर बहुत बड़ी संख्याके स्वतंत्र और समृद्ध राष्ट्र — जैसे इंग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड, फ्रान्स, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, टर्की, मिस्र, चीन, जापान आदि देश प्राथमिक शिक्षामें विदेशी भाषाको कोई स्थान ही नहीं देते। युगोस्लाविया और इंडोनेशिया केवल बालक की १२ वर्षकी आयुसे ही इस विषयको स्थान देते हैं। रूस और जर्मन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक ११ की आयुसे, फेडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी तथा स्वीडन १० या ११ की आयुसे और नार्वे १२ की आयुसे विदेशी भाषाके शिक्षणको स्थान देते हैं। लंका और अफगानिस्तान ८ वर्षकी आयुसे और फिलिपाइन्स ७ वर्षकी आयुसे विदेशी भाषाका शिक्षण आरंभ करता है। आयरलैण्डमें आयरिश और इंग्लिश दोनों भाषायें ४ वर्षकी आयुसे ही बालकोंको सिखाई जाती हैं। सोवियट संघके कुछ एशियाई राज्य, जैसे उज्बेकिस्तान, कक्षा २ से यानी ८ वर्षकी आयुसे रूसी भाषाका शिक्षण आरंभ करते हैं, परन्तु वहां रूसी भाषा उनके संघकी भाषा है।

महान प्रगतिशील देशोंमें केवल अमेरिका ही एक ऐसा देश है, जहां विदेशी भाषायें छोटी आयुसे ही — ६ या ७ की आयुसे ही — बालकोंको सिखानेकी प्रथा है। १९५२ में अमेरिकाके शिक्षा-आयुक्त (कमिश्नर) श्री मैक्ग्रायने छोटे बालकोंको विदेशी भाषायें सिखानेकी नई जोरदार लहर चलाई। वे मानते थे कि बालक इस आयुमें विदेशी भाषाको अनुकरण द्वारा स्वयं ही ग्रहण कर लेते हैं। वे भाषा-विश्लेषण तथा मातृभाषा और अन्य भाषाओंके भेदोंमें नहीं उतरते। मॉन्ट्रीयल न्यूरोलॉजिकल इन्स्टिटयूटके डायरेक्टर डॉ० विल्डर पेनफील्डने भी इस बात पर जोर दिया है कि मस्तिष्कके भाषाको ग्रहण करनेवाले भाग १० से १४ वर्षकी आयु तक कोमल और लचीले रहते हैं। इस आयुमें बालक सुगमतासे विदेशी भाषायें सीख लेते हैं। भारतके कुछ विद्वान यही तर्क देकर हमारे यहां भी अंग्रेजीका शिक्षण छोटी आयुमें प्रारम्भ करनेकी बात कहते हैं।

१९५५ में यूनेस्कोकी ओरसे एक सेमिनार लंकामें हुई। उसके आधार पर एक पुस्तक 'दि टीचिंग ऑफ माडर्न लैंग्वेजेज' प्रकाशित की गई। उसमें अमेरिकामें प्रचलित इस नई लहरका अच्छा विश्लेषण किया गया है। मैंने वह पुस्तक पढ़ी है। इसी विषय पर अमेरिकाके शिक्षा-विभाग द्वारा भेजी हुई तीन छोटी पुस्तिकायें भी मैंने देखी हैं। इग्लैण्ड, फ्रान्स, कनाडा और जर्मनीके

सीखनेका बोझ अनुभव न करे। और (३) दोनों भाषाओंमें से किसी एकके प्रति धार्मिक तथा राजनीतिक दृष्टिसे प्रभुता, हीनता अथवा पक्षपातकी कोई भावना न हो — अर्थात् उन भाषाओंके सीखनेमें कोई भावनात्मक या मनोवैज्ञानिक बाधा न हो। इन शर्तोंसे यह विदित होगा कि हमारे देशमें जिस प्रकार अंग्रेजी भाषा सिखाई जाती है (या सिखाई जानेवाली है), उससे तो छोटे बालकोंको लाभके बदले हानि ही होगी। यहां शिक्षक अंग्रेजी और मातृभाषा दोनों भाषायें बोलते हैं। फिर अमेरिकामें ६ या ७ वर्षके बालकोंको जिस प्रकार खेल खेलमें और उनके अनुभवोंके द्वारा विदेशी भाषा सिखाई जाती है, उस प्रकारसे भारतमें कितने शिक्षक छोटे बालकोंको अंग्रेजी भाषा सिखा सकते हैं? वहां विदेशी भाषाका अध्ययन आरंभ करनेके बाद बालक दो तीन साल तक केवल उस भाषाको बोलने और समझनेकी क्षमता प्राप्त करता है। उसे लिखना व पढ़ना वह इसके बाद शुरू करता है। और उस भाषाका व्याकरण तो बालक उसके भी कुछ समय बाद सीखता है।

चौथी बात यह है कि अमेरिकामें जो विदेशी भाषायें सिखाई जाती हैं, वे वहांके बालकोंकी मातृभाषासे सम्बद्ध एक ही भाषा-समुदायकी होती हैं। भारतमें जो अंग्रेजी हम अपने बालकोंको सिखाना चाहते हैं, वह हमारी सभी भारतीय भाषाओंसे भिन्न दूसरे भाषा-समुदायकी भाषा है। भारतीय भाषाओंकी तरह उसमें लिखे अनुसार शब्दोंका उच्चारण नहीं होता। उसके हिज्जे (स्पेलिंग) कठिन हैं। उसकी चार चार लिपियां हैं। इसलिए अमेरिकाका उदाहरण भारतकी परिस्थितियोंमें सर्वथा असंगत है। यहां तो अंग्रेजी भाषा कक्षा ९ से ही सिखाई जानी चाहिये, उससे पहले नहीं। फिर, बड़े बड़े दूसरे देश अमेरिकाका अनुकरण नहीं करते। उसका पड़ोसी देश कनाडा भी इस विषयमें उसका अनुकरण नहीं करता। तब क्या हमारे ही भाग्यमें उसका अन्ध अनुकरण लिखा है?

परन्तु हम किसी भी देशका अन्ध अनुकरण क्यों करें? हमारी अपनी परिस्थितियां हैं और अपनी ही आवश्यकतायें हैं। हमें अपने हेतुओंके अनुकूल उत्तम मार्ग चुनना चाहिये। हमें आधुनिक शिक्षाके सर्वाधिक प्रगतिशील प्रवाहोंके अनुसार भाषायें और मातृभाषा सिखानेकी अपनी पद्धतियोंमें भी सुधार करना चाहिये। हम छोटे बालकोंकी दो भाषायें साथ साथ सीखने और अनुकरण करनेकी वृत्तिका लाभ उठाकर कक्षा ३ से भी उन्हें केवल सुनने तथा बोलनेके अभ्यास द्वारा कोई भारतीय भाषा खेल या पी० टी० के समय

सिखायें और उसका पढ़ाना और लिखाना कक्षा ७ या ८ से ही आरंभ करें। इसके लिए प्रति सप्ताह केवल दो-तीन घंटेका समय पर्याप्त होगा। यह राष्ट्रीय एकता सिद्ध करनेमें सहायक सिद्ध होगा। अंग्रेजीका शिक्षण तो हमें उत्तम पद्धतियों द्वारा कक्षा ९ से ही आरंभ करना चाहिये।

इस प्रकार अंग्रेजीका शिक्षण बालककी बड़ी आयुमें — माध्यमिक स्तर पर — आरंभ करनेका मेरा सुझाव केवल भाषा-सम्बन्धी भावनाओं पर ही आधार नहीं रखता, परन्तु शैक्षणिक और व्यावहारिक कारणों पर भी आधार रखता है।

५

ताजी चर्चायें, रिपोर्टें और शोधकार्य

हमारे देशके शिक्षितों तथा शिक्षाशास्त्रियों पर भी यह छाप है कि हालके ताजे अन्वेषणों और विशेषज्ञोंके मतोंसे इस बातको समर्थन मिलता है कि प्राथमिक कक्षाओंमें, यहां तक कि नर्सरी या किंडर गार्टन कक्षाओंमें ही, विदेशी भाषाओंका शिक्षण जल्दी आरम्भ कर दिया जाना चाहिये। वे यह भी बताते हैं कि पश्चिमके अधिकतर देशोंने अपने यहां तेजीसे इस प्रथाको अपना लिया है। यहां मुझे प्राप्त हुए कुछ बहुत ताजे साहित्यके आधार पर मैं इस मतका परीक्षण करके बताना चाहता हूं कि यह मत सत्यसे बहुत दूर है।

अमेरिकामें सरकारी और गैर-सरकारी मत विदेशी भाषायें छोटी आयुमें बालकोंको सिखानेके पक्षमें होते हुए भी इस सम्बन्धमें उपलब्ध अमरीकी और अन्य देशोंके साहित्यसे पता चलता है कि विश्वके अन्य किसी भी प्रगतिशील राष्ट्रने अभी तक प्राथमिक शालाओंमें विदेशी भाषा-शिक्षणके कार्यक्रमको राष्ट्रव्यापी बनानेकी सिफारिश नहीं की है।

विश्वके अनेक देश द्विभाषी हैं। बेल्जियम जैसे कुछ देश त्रिभाषी हैं। स्विटज़रलैण्ड एक चतुर्भाषी देश है। बेशक, ऐसे देशोंमें एकसे अधिक भाषायें राज्यभाषा अथवा राष्ट्रभाषाके रूपमें स्वीकार की जाती हैं। कुछ देशोंमें प्रत्येक बालक द्वितीय भाषा ११ वर्षकी आयुमें सीखता है, कुछ दूसरे देशोंमें इससे कुछ पहले; परन्तु शायद ही किसी देशमें कक्षा १ या नर्सरी

कक्षाओंमें बालक मातृभाषा सीखनेसे पहले या उसके साथ साथ द्वितीय भाषा सीखता है।

अमेरिकाके सिवा दूसरे देशोंमें कभी कभी निजी संस्थायें सीखना चाहनेवालोंको फीस लेकर, स्कूलके समयसे बाहर, १० या ११ वर्षकी आयुसे पहले विदेशी भाषायें सिखाती हैं। परन्तु ऐसी स्थानीय असंगठित और निजी संस्थाओंके कार्य और मतकी परवाह न करके सामान्य प्रवृत्ति प्राथमिक शालाओंमें विदेशी भाषाओंके शिक्षणको केवल एक प्रयोग मानकर उसका निरीक्षण करनेकी होती है। इंग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली और आयरलैण्डमें प्राथमिक शालाओं तथा किंडर गार्टन कक्षाओंमें विदेशी भाषा सिखानेके छुट-पुट प्रयोग किये गये हैं और उन्हें ऊपरी सफलता भी मिली है — परन्तु वहीं जहां विदेशी भाषा सिखानेवाले अच्छे शिक्षक मिल सके हैं और उसके लिए उपयुक्त आधुनिक पद्धतियां अपनाई गई हैं।

अमेरिका तो भला राजनीतिक कारणोंसे विदेशी भाषाओंके अध्ययन पर जोर देता है; परन्तु दूसरा कोई महान या प्रगतिशील देश इन प्रयोगोंसे प्रेरणा ग्रहण करके विदेशी भाषाके शिक्षणको अपने यहां सार्वत्रिक नहीं बनाता, इसके कुछ अत्यन्त स्पष्ट कारण हैं।

पहला कारण यह है कि विदेशी भाषा सिखानेके लिए केवल ऐसे ही शिक्षक होने चाहियें, जिन्हें विदेशी भाषायें सिखानेकी विशिष्ट पद्धतियोंकी उत्कृष्ट कोटिकी विशेष तालीम मिली हो और जिनकी वह विदेशी भाषा ही मातृभाषा हो। अन्य शिक्षक सामान्यतः इस कार्यमें भयंकर रूपसे असफल सिद्ध होते हैं। दूसरे, विद्यार्थियोंको विशेष छात्रालयोंमें रखना पड़ता है। कभी कभी उन्हें उस भाषाके बोलनेवाले विदेशी परिवारोंके साथ रखना पड़ता है। कभी कभी विद्यार्थियोंको कुछ सप्ताहोंके लिए उस देशकी यात्रा भी करने दी जाती है, जहां वह विदेशी भाषा बोली जाती है। एक कक्षामें केवल २० विद्यार्थी ही लिये जाते हैं। अन्तमें संभाषण, नाटक, चित्र, फिल्म, रेडियो तथा टेलिविजन — इन सब साधनोंकी सहायता सीखनेवालोंके लिए उपलब्ध की जाती है।

परन्तु उच्च कोटिकी तालीम पाये हुए योग्य शिक्षक और ये सब साधन इतने खर्चीले हैं कि संसारके धनीसे धनी राष्ट्र भी समस्त प्राथमिक शालाओंमें ये प्रयोग नहीं कर सकते। अमेरिका, फ्रान्स, इंग्लैण्ड तीनों देशोंको इन कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है।

फिर भी भारतमें हम ऊंचे वेतनवाली सरकारी नौकरियोंके प्रलोभनके ऐसे शिकार हो गये हैं कि उपरोक्त सारी सुविधाओंका हमारे यहां सर्वथा अभाव होते हुए भी हम समग्र देशमें भिन्न भाषा-समुदायकी एक विदेशी भाषाको कक्षा ३ से सिखानेकी योजना पर अमल करनेको तैयार हैं। शिक्षणमें सहायता पहुंचानेवाले साधनोंका हमारे यहां सर्वथा अभाव है, हमारे शिक्षकोंको भाषाशास्त्रकी कोई तालीम नहीं मिली है और आधुनिक शिक्षण-पद्धतियोंके बारेमें तो जितना मौन रखा जाय उतना ही ठीक है। यह स्थिति हमारे देशकी कुछ उत्तम कोटिकी मानी जानेवाली प्राथमिक शालाओंकी है, जिनकी भारी फीस केवल शहरके धनी भद्रवर्गके लोग ही दे सकते हैं। इसके अतिरिक्त, हमारे लगभग सारे स्कूलोंमें अंग्रेजीके शिक्षणके लिए जो पद्धतियां अपनाई जाती हैं, वे अत्यन्त पुरानी हैं और ऐसी हैं जिनका अन्यत्र कहीं भी आज उपयोग नहीं किया जाता। हमारे देशमें निजी शिक्षण-संस्थायें बालकोंको छोटी आयुमें अंग्रेजी सिखानेके गलत उत्साहमें राज्य-सरकारोंसे भी आगे बढ़ रही हैं। लखनऊ शहर और मेरठ जिलेमें ऐसी अनेक संस्थायें मैंने देखी हैं।

परन्तु वैज्ञानिक मत स्पष्ट रूपसे प्राथमिक शालाओंमें विदेशी भाषायें सिखानेके पक्षमें नहीं है। अप्रैल १९६२ में यूनेस्कोके तत्त्वावधानमें इसी प्रश्नकी चर्चा करनेके लिए विशेषज्ञोंकी जो सेमिनार हुई, उसके विशेषज्ञोंके लिए प्रकाशित 'इंट्रोडक्टरी वर्किंग पेपर' में बताया गया है कि प्राथमिक शालाओंमें विदेशी भाषाका शिक्षण देनेसे देशी भाषा या मातृभाषाके सीखनेमें रुकावट होती है। उसमें यह भी कहा गया है कि छोटी आयुमें विदेशी भाषा सीखनेमें जितना समय खर्च किया जाता है, उसकी तुलनामें शिक्षणके परिणाम उतने अच्छे नहीं आते। उस आयुमें विदेशी भाषा सीखनेका प्रयत्न अनुकरणात्मक होता है; वह जाग्रत नहीं होता, न उसके पीछे कोई प्रेरणा या उद्देश्य होता है। दूसरी ओर, यदि १२ की आयुके बाद विदेशी भाषा सीखना आरंभ किया जाय, तो परिश्रम अधिक करना होता है, परन्तु उसके परिणाम बहुत अच्छे आते हैं। उसमें विद्यार्थीकी विकसित स्मरण-शक्ति, विकसित बुद्धि तथा भाषाके अनेक पहलुओं और उसके साथ जुड़े हुए सांस्कृतिक तत्त्वोंको समझनेकी विकसित शक्तिका लाभ मिलता है। उसी 'पेपर' के अनुसार यदि कोई व्यक्ति वयस्क होने पर विदेशी भाषा सीखना आरंभ करे, तो कमसे कम समयमें वह अधिकसे अधिक सीख सकता है। क्योंकि तब बड़ी आयुमें विदेशी भाषा सीखनेके लाभोंके साथ निश्चित हेतु तथा शुभ प्रेरणाके लाभ जुड़ जाते हैं। हमारे अनेक भारतीय विश्वविद्यालयोंमें विज्ञान-शाखाके साथ अनुस्नातक वर्गोंमें

तथा सोवियट सोश्यलिस्ट रिपब्लिककी शिक्षण-संस्थाओं, शिक्षक-संघों तथा राजकीय शिक्षा-विभागोंने उपरोक्त आधार पर ही स्टॉकहोम कांग्रेसको भेजे हुए अपने सन्देशोंमें प्राथमिक शालाओंमें विदेशी भाषाओंका शिक्षण आरंभ करनेका विरोध किया है। हालैण्ड और बेल्जियमके शिक्षक-संघका मत है कि प्राथमिक शालाओंके पाठ्यक्रममें (आयु ६ से १२ वर्ष) विदेशी भाषाका शिक्षण तभी संभव और वांछनीय हो सकता है, जब कि वह अन्वेषणके द्वारा परीक्षित वर्तमान प्रत्यक्ष पद्धतिसे दिया जाय।

प्राथमिक शालाका मुख्य उद्देश्य है बालकोंको देशकी सामान्य संस्कृति तथा नागरिकताकी तालीम देना। क्या हम आंशिक रूपमें भी इस उद्देश्यकी कुरबानी करके प्राथमिक शालाओंके पाठ्यक्रममें विदेशी भाषाके शिक्षणको स्थान देंगे? फ्रान्सके राष्ट्रीय शिक्षा-मंत्रालयने भी लगभग ११ वर्षकी आयु तक बालकोंको विदेशी भाषायें सिखानेका स्पष्ट विरोध किया है। यूनेस्कोको भेजी गई अपनी रिपोर्टमें उसने कहा है: "प्राथमिक और अंतिम दौरमें (११ वर्षकी आयु तक) आधुनिक विदेशी भाषाके अध्ययनके लिए हमारे यहां कोई व्यवस्था नहीं है। इन दो दौरोंकी योजना बालकोंको सामान्य तालीम देने और सामान्य सांस्कृतिक भूमिकाका ज्ञान देनेके लिए तथा आवश्यक हो वहां व्यावसायिक और तकनीकी शिक्षाकी नींव डालनेके लिए की गई है।"

हम देख सकते हैं कि भारतमें बुनियादी शिक्षाके भी ये ही ध्येय हैं। तब प्रश्न यह होता है कि क्या आंशिक रूपमें भी इन ध्येयोंकी कुरबानी करना और हमारे ०.१ से १० प्रतिशत विद्यार्थियोंके लिए — जो उच्चतर शिक्षा ग्रहण करेंगे, अखिल भारतीय सेवाओंमें जायंगे या अन्तरराष्ट्रीय संपर्क स्थापित करेंगे — अंग्रेजीके समान एक सर्वथा भिन्न भाषा-समुदायकी कठिन विदेशी भाषाके शिक्षणकी व्यवस्था करना हमारे लिए बुद्धिमत्ताका काम होगा?

ई० एफ० ओ'डोहर्टीका द्विभाषीयता पर लिखा निबन्ध इस विषयमें — अर्थात् दो भाषाओंके साथ साथ किये जानेवाले उपयोगके विषयमें — की गई शोध पर बहुमूल्य सार प्रस्तुत करता है। सर्वप्रथम वे यूनेस्कोकी १९५३ की इस घोषणाका समर्थन करते हैं: "यह स्वतःसिद्ध वस्तु है कि बालककी शिक्षाका सर्वोत्तम माध्यम उसकी मातृभाषा है।" पहलेकी शोधें और हालकी ताजी शोधें इस बातका प्रमाण देती हैं कि बालकोंको विदेशी माध्यम द्वारा शिक्षण देनेसे उनकी बुद्धिका विकास रुकता है। यह दुहरी विचार-प्रक्रियाका परिणाम

बताया जाता है: (१) विदेशी शब्दको ग्रहण करना; और (२) उसके बाद उस शब्दके पीछे रहे विचारको ग्रहण करना।

छोटे बालकोंको दो भाषायें (जिनमें से एक विदेशी भाषा हो) साथ साथ सिखानेकी चर्चा करते हुए वे बताते हैं कि दोनों भाषाओं पर एकसा अधिकार प्राप्त करना 'संभवतः विरल स्थिति' होती है। ऐसे बालक अधिकतर अपनी ही मातृभाषा अच्छी तरह बोल सकते हैं। लेकिन दो भाषायें साथ साथ सिखानेमें उनकी बुद्धिका सन्तोषप्रद विकास नहीं होता और उनका शैक्षणिक विकास भी रुकता है। छोटी आयुमें अंग्रेजी सिखानेवाली लगभग समस्त भारतीय शालाओंके बालक इसी प्रकारके द्विभाषी अथवा दो भाषायें जाननेवाले होंगे। अंग्रेजी भाषा सिखानेकी आजकी पद्धति उन्हें अंग्रेजी पर उतना पूर्ण और आसान अधिकार नहीं दे सकती, जितना वे स्वभावतः अपनी मातृभाषा पर प्राप्त कर सकेंगे। और दो भाषायें साथ साथ सीखनेके कारण उनके बौद्धिक और शैक्षणिक विकासमें रुकावट होगी।

ओ'डॉह्र्टीने विभिन्न अन्वेषणोंके परिणामोंसे अंतमें यह बताया है कि दो भाषाओंका एक साथ दिया जानेवाला शिक्षण बालकके सामान्य मानसिक विकासमें न तो सहायक होता और न बाधक।

आजकल इस बातको बड़ा महत्त्व दिया जा रहा है कि तेजीसे सिकुड़ते हुए 'एक विश्व' में अंग्रेजी भाषा अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धोंको बढ़ानेका एक महत्वपूर्ण साधन है। परन्तु यह बात साधारणसे साधारण मनुष्य भी समझ सकता है कि हमारे नये लोकतंत्रमें अन्तरराष्ट्रीय सहयोग और मित्रताको बढ़ानेकी अपेक्षा भारतके विभिन्न राज्योंके बीचकी मित्रता और सहयोगको बढ़ाना अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण है। इसलिए भारतकी परिस्थितियोंको देखते हुए संभवतः यह अधिक उचित होगा कि अंग्रेजीका आग्रह छोड़कर हम अपने दक्षिणके राज्योंमें हिन्दीका ज्ञान बढ़ायें और उत्तरके राज्योंमें दक्षिण भारतीय भाषाओंका ज्ञान बढ़ायें। इससे राष्ट्रीय एकताकी स्थापनामें सहायता मिलेगी। परन्तु ये भाषायें भी प्राथमिक शालाओंमें आवश्यक रूपसे न सिखाई जायं। संभवतः इन भाषाओंका शिक्षण माध्यमिक और विश्वविद्यालयीन स्तरके विद्यार्थियों तथा प्रौढ़ स्त्री-पुरुषोंको देना लाभदायक होगा।

६

अखिल भारतीय परीक्षाओंकी कठिनाई और उसका हल

देशके उत्तरी राज्योंकी प्राथमिक शालाओंमें अंग्रेजीके शिक्षण पर पुनः भार देनेके वर्तमान रुझानका एकमात्र सच्चा कारण है अखिल भारतीय सेवाओंमें स्थान प्राप्त करनेकी प्रतियोगिता। उत्तर प्रदेश सरकारने नवम्बर १९६१ के अपने पूरक बजटमें इस बातका उल्लेख किया था। अभी तक दक्षिण भारतके राज्योंके तथा विशेषतः मद्रास विश्वविद्यालयके विद्यार्थी उच्च सेवाओंमें स्थान प्राप्त करते रहे हैं। बहुत संभव है कि इसका कारण अंग्रेजीके ज्ञानमें उनकी श्रेष्ठता होगी। (देखिये: 'रेग्युलर रिक्रूट्स टु दि आई० ए० एस०—ए स्टडी' नामक पुस्तिका) उत्तरके राज्य इस प्रतियोगितामें पिछड़ना नहीं चाहते।

परन्तु अंग्रेजीके प्रश्न पर पीछे कदम हटानेकी इस वृत्तिमें बड़े गंभीर शैक्षणिक और सांस्कृतिक प्रश्न निहित हैं। इन प्रश्नोंकी विस्तृत चर्चा मैं पुस्तिकाके प्रथम तीन प्रकरणोंमें कर चुका हूं और मैंने अपने निर्णयोंका औचित्य सिद्ध करनेके लिए जगतके कुछ प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्रियों तथा वैज्ञानिकों आदिके मतोंका उल्लेख किया है। इन सांस्कृतिक, शैक्षणिक तथा सामाजिक कुपरिणामोंके निवारणके लिए हमें अपने सर्वस्वकी बाजी लगा देनी चाहिये। महात्मा गांधीने १९३२ में सवर्ण हिन्दुओंसे असवर्ण हिन्दुओंका अलगाव रोकनेके लिए अपने प्राणोंकी बाजी लगा दी थी। अंग्रेजीका यह प्रश्न भी हमारे देशके लिए उतना ही बड़ा महत्त्व रखता है।

अखबारी रिपोर्टके अनुसार केन्द्रीय सरकार यह निर्णय कर चुकी है कि तृतीय पंचवर्षीय योजनाके अंत तक विश्वविद्यालयोंमें परीक्षाका माध्यम अंग्रेजीके स्थान पर राज्यभाषा कर दी जायगी। उसके साथ साथ ही यह घोषणा भी क्यों न कर दी जाय कि अबसे आगे राज्यभाषायें अखिल भारतीय परीक्षाओंका भी वैकल्पिक माध्यम होंगी; और फिर कुछ वर्ष बाद वे राज्यभाषायें उन परीक्षाओंका एकमात्र माध्यम रहेंगी? उस स्थितिमें अखिल भारतीय सेवाओंकी परीक्षामें उतने अंक विविध भाषाओंकी

राजधानियोंमें ली जानेवाली परीक्षाओंके स्तरकी ही जायगी — जिनका माध्यम राज्योंकी अपनी अपनी भाषायें होती हैं। इन परीक्षाओंमें हिन्दी-भाषी उत्तर भारतीय विद्यार्थियोंके लिए दक्षिणकी कोई एक भाषा तथा अहिन्दी-भाषी दक्षिण भारतीय विद्यार्थियोंके लिए हिन्दी अनिवार्य बनाई जा सकती है। अंग्रेजी सबके लिए अनिवार्य हो सकती है। परन्तु इन भाषाओंके विषयोंमें आवश्यक मानी जानेवाली योग्यताका स्तर वही रखा जाय, जिसका उल्लेख अंग्रेजीके सम्बन्धमें भारतीय विश्वविद्यालय आयोगने अपनी रिपोर्टमें किया है; और प्रतिस्पर्धात्मक परिणामोंमें ६० प्रतिशतसे अधिक अंक न जोड़े जाय। अन्य राज्योंमें बदले जानेवाले अधिकारी या केन्द्र द्वारा नियुक्त किये जानेवाले अधिकारी एक अन्य अखिल भारतीय परीक्षा द्वारा चुने जाय; और ये उन्हीं लोगोंमें से चुने जाय, जिन्होंने अपने अपने राज्यमें कमसे कम पांच वर्षकी यशस्वी सेवा की हो। इस दूसरी अखिल भारतीय परीक्षामें केवल दो भाषा-विषयोंकी योग्यताकी ही परीक्षा की जाय। पांच वर्षकी यशस्वी सेवाकी यह शर्त अखिल भारतीय सेवाओंके लिए अधिकारियोंकी योग्यता और कार्यक्षमताकी एक अतिरिक्त गारंटी बन जायगी।

ये मेरे अपने कुछ सुझाव हैं। किन्तु भाषाकी समस्या एक कठिन समस्या है। इसे हल करनेके लिए अन्य लोगोंसे भी सुझाव मांगे जा सकते हैं — जो इस विषयके जानकार हैं और इस समस्याको हल करनेका मार्ग बता सकते हैं। उसके बाद शिक्षाशास्त्रियों तथा शिक्षामंत्रियोंकी एक विशेष परिषद मुख्य कठिनाइयों और मतभेदोंको दूर करनेकी दृष्टिसे बुलाई जाय। ऐसी अन्य समस्यायें भी हो सकती हैं, जिन्हें मेरे उपरोक्त सुझावोंने स्पर्श न किया हो — जैसे पारिभाषिक शब्दोंकी समस्या। इन समस्याओंको भी एकके बाद एक हाथमें लेकर हल करनेका प्रयत्न होना चाहिये। मैं तो केवल दो बातों पर ही यहां भार देना चाहूंगा : (१) अंग्रेजीके प्रति आजका हमारा मोह हमारी भाषा-सम्बन्धी समस्याका हल नहीं है; (२) जहां दृढ़ संकल्प है वहां मार्ग सदा मिल ही जाता है।

मेरा व्यक्तिगत रूपमें यह भी आग्रह है कि पुरानी गलतफहमियोंके स्थान पर सहयोग और मित्रताकी नई भावना उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे उत्तर भारत सारे विवादास्पद प्रश्नों पर दक्षिण भारतके लोगोंकी ऐसी बातें —